।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथैकादशोऽध्यायः

गत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया; किन्तु अर्जुन को लगा कि उसने विस्तार से सुन लिया है। उसने कहा कि आपकी वाणी सुनने से मेरा सारा मोह नष्ट हो गया; किन्तु आपने जो कहा, उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। सुनने और देखने में पश्चिम और पूर्व का अन्तर है। चलकर देखने पर वस्तुस्थिति कुछ और ही होती है। अर्जुन ने उस रूप को देखा तो काँपने लगा, क्षमायाचना करने लगा। क्या ज्ञानी भयभीत होता है? उसे कोई जिज्ञासा रह जाती है? नहीं, बौद्धिक स्तर की जानकारी सदैव धूमिल रहती है। हाँ, वह यथार्थ जानकारी के लिये प्रेरणा अवश्य देती है। इसलिए अर्जुन ने निवेदन किया-

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

भगवन्! मुझ पर अनुग्रह करने के लिये, जो आपके द्वारा गोपनीय अध्यात्म में प्रवेश दिलानेवाला उपदेश कहा गया, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया। मैं ज्ञानी हो गया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

क्योंकि हे कमलनेत्र! मैंने भूतों की उत्पत्ति और प्रलय आपसे विस्तारपूर्वक सुना है तथा आपका अविनाशी प्रभाव भी सुना है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

हे परमेश्वर! आप अपने को जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु मैंने उसे केवल सुना है। अतः हे पुरुषोत्तम! उस ऐश्वर्ययुक्त स्वरूप को मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

हे प्रभो! मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना सम्भव है, यदि आप ऐसा मानते हों, तो योगेश्वर! आप अपने अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये। इस पर योगेश्वर ने कोई प्रतिवाद नहीं किया; क्योंकि पहले भी वे स्थान-स्थान पर कह आये हैं कि तू मेरा अनन्य भक्त और प्रिय सखा है। अतः बड़ी प्रसन्नता के साथ उन्होंने अपना स्वरूप दरसाया-

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

पार्थ! मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा आकृतिवाले दिव्य स्वरूप को देख।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

हे भारत! अदिति के बारह पुत्रों, आठ वसुओं, एकादश रुद्रों, दोनों अश्विनीकुमारों और उनचास मरुद्गणों को देख तथा अन्य बहुत से पहले तुम्हारे द्वारा कभी न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

अर्जुन! अब मेरे इस शरीर में एक ही स्थान पर स्थित हुए चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह देख।

इस प्रकार तीनों श्लोकों तक भगवान लगातार दिखाते चले गये किन्तु अर्जुन को कुछ दिखायी नहीं पड़ा (वह आँखें मलता रह गया) अतः ऐसा दिखाते हुए भगवान सहसा रुक जाते हैं और कहते हैं-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

अर्जुन! तू मुझे अपने नेत्रों द्वारा अर्थात् बौद्धिक दृष्टि द्वारा देखने में समर्थ नहीं है इसलिए मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक दृष्टि देता हूँ, जिससे तू मेरे प्रभाव और योगशक्ति को देख।

इधर योगेश्वर श्रीकृष्ण के कृपा-प्रसाद से अर्जुन को वही दृष्टि प्राप्त हुई, उसने देखा और उधर योगेश्वर व्यास के कृपा-प्रसाद से वही दृष्टि संजय को मिली थी। जो कुछ अर्जुन ने देखा, अक्षरशः वही संजय ने भी देखा और उसके प्रभाव से अपने को कल्याण का भागी बनाया। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण एक योगी के समकक्ष हैं।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

संजय बोला - हे राजन्! महायोगेश्वर हरि ने इस प्रकार कहकर उसके उपरान्त पार्थ को अपना परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखाया। जो स्वयं योगी है और दूसरों को भी योग प्रदान करने की जिसमें क्षमता हो, जो योग का स्वामी हो, उसे योगेश्वर कहते हैं। इसी प्रकार सर्वस्व का हरण करनेवाला हरि है। यदि केवल दुःखों का हरण किया और सुख छोड़ दिया, तो दुःख आयेगा। अतः सब पापों के नाश के साथ सर्वस्व का हरण करके अपना स्वरूप देने में जो सक्षम है, वह हरि है। उन्होंने पार्थ को अपना दिव्यस्वरूप दिखाया। सामने तो खड़े ही थे।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

अनेक मुख और नेत्रों से युक्त, अनेक अद्भुत् दर्शनोंवाले, अनेक दिव्य भूषणों से युक्त और अनेक दिव्य शस्त्रों को हाथ से उठाये तथा-

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य गन्ध का अनुलेपन किये हुए, सब प्रकार आश्चर्यों से युक्त सीमारहित विराट् स्वरूप परमदेव को दृष्टि मिलने पर अर्जुन ने देखा।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

(अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र, संयमरूपी संजय - जैसा पीछे आया है।) संजय बोला - हे राजन्! आकाश में एक साथ हजार सूर्यों के उदय होने से जितना प्रकाश होता है, वह भी विश्वरूप उन महात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित् ही हो। यहाँ श्रीकृष्ण महात्मा ही हैं, योगेश्वर थे।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने (पुण्य ही पाण्डु है। पुण्य ही अनुराग को जन्म देता है) उस समय अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को उन परमदेव के शरीर में एक जगह स्थित देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

इसके पश्चात् आश्चर्य से युक्त हर्षित रोमोंवाला वह अर्जुन परमात्म देव को शिर से प्रणाम कर (पहले भी प्रणाम करता था; किन्तु प्रभाव देखने पर सादर प्रणाम कर) हाथ जोड़कर बोला। यहाँ अर्जुन ने अन्तःकरण से नमन किया और कहा-

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

हे देव! आपके शरीर में मैं सम्पूर्ण देवों को तथा अनेक भूतों के समुदाय को, कमल के आसन पर बैठे हुए ब्रह्मा को, महादेव को, सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ। यह प्रत्यक्ष दर्शन था, कोरी कल्पना नहीं; किन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब योगेश्वर, पूर्णत्व प्राप्त महापुरुष हृदय से दृष्टि प्रदान करें। यह साधनगम्य है।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

विश्व के स्वामी! मैं आपको अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रों से संयुक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! न मैं आपके आदि को, न मध्य को और न अन्त को ही देखता हूँ अर्थात् आपके आदि, मध्य और अन्त का निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।१७।।

मैं आपको मुकुटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त, सब ओर से प्रकाशमान तेजपुंज स्वरूप, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश देखने में दुष्कर अर्थात् कठिनाई से देखा जानेवाला और सब ओर से बुद्धि आदि से ग्रहण न हो सकनेवाला अप्रमेय देखता हूँ। इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों से पूर्णतया समर्पित होकर योगेश्वर श्रीकृष्ण को इस रूप में देखकर अर्जुन उनकी स्तुति करने लगा-

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

भगवन्! आप जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् अक्षय परमात्मा हैं। आप इस जगत् के परम आश्रय हैं, आप शाश्वत धर्म के रक्षक हैं तथा आप अविनाशी सनातन पुरुष हैं - ऐसा मेरा मत है। आत्मा का स्वरूप क्या है? शाश्वत है, सनातन है, अव्यक्त रूप है, अविनाशी है। यहाँ श्रीकृष्ण का क्या स्वरूप है? वही शाश्वत, सनातन, अव्यय, अविनाशी अर्थात् प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष भी उसी आत्मभाव में स्थित होता है। तभी तो भगवान और आत्मा एक ही लक्षणवाले हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

हे परमात्मन्! मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त हाथोंवाला (पहले हजारों थे, अब अनन्त हो गये), चन्द्रमा और सूर्यरूपी नेत्रोंवाला (तब तो भगवान काने हो गये। एक आँख चन्द्रमा की तरह क्षीण प्रकाशवाली और दूसरी सूर्य की तरह सतेज। ऐसा कुछ नहीं है। सूर्य के समान प्रकाश प्रदान करनेवाला और चन्द्रमा की तरह शीतलता प्रदान करनेवाला गुण भगवान में है। शशि-सूर्य मात्र प्रतीक हैं। अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य की दृष्टि वाले) तथा प्रज्वलित अग्निरूपी मुखवाला तथा अपने तेज से इस जगत् को तपाते हुए देखता हूँ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

हे महात्मन्! अन्तरिक्ष और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एकमात्र आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अलौकिक, भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

वे देवताओं के समूह आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके गुणों का गान कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों के समुदाय स्वस्तिवाचन अर्थात् 'कल्याण हो', ऐसा कहते हुए सम्पूर्ण स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, वायुदेव और 'उष्मपाः'- ईश्वरीय ऊष्मा ग्रहण करनेवाले तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय सभी आश्चर्य से आपको देख रहे हैं अर्थात् देखते हुए भी समझ नहीं पा रहे हैं; क्योंकि उनके पास वह दृष्टि ही नहीं है। श्रीकृष्ण ने पीछे बताया था कि आसुरी स्वभाववाले लोग मुझे तुच्छ कहकर सम्बोधित करते हैं, सामान्य मनुष्य-जैसा मानते हैं जबकि मैं परमभाव में, परमेश्वर रूप में स्थित हूँ। यद्यपि हूँ मनुष्य शरीर के आधार वाला। उसी का विस्तार यहाँ है कि वे आश्चर्य से देख रहे हैं, यथार्थतः समझ नहीं पा रहे हैं- नहीं देखते हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

महाबाहो! (श्रीकृष्ण महाबाहु हैं और अर्जुन भी। प्रकृति से परे महान् सत्ता में जिसका कार्यक्षेत्र हो, वह महाबाहु है। श्रीकृष्ण महानता के क्षेत्र में

पूर्ण हैं, अधिकतम सीमा में हैं। अर्जुन उसी की प्रवेशिका में है, मार्ग में है। मंजिल मार्ग का दूसरा छोर ही तो है।) महाबाहु योगेश्वर! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ-जंघा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले, अनेक विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूप को देखकर सब लोक व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। अब अर्जुन को कुछ भय हो रहा है कि श्रीकृष्ण इतने महान् हैं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

विश्व में सर्वत्र अणुरूप से व्याप्त हे विष्णु! आकाश को स्पर्श किये हुए प्रकाशमान, अनेक रूपों से युक्त, फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर विशेष रूप से भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धैर्य और मन के समाधानरूपी शान्ति को नहीं पा रहा हूँ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

आपके विकराल दाढ़ोंवाले और कालाग्नि (काल के लिये भी अग्नि है परमात्मा) के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मैं दिशाओं को नहीं जान पा रहा हूँ। चारों ओर प्रकाश देखकर दिशा-भ्रम हो रहा है। आपका यह रूप देखते हुए मुझे सुख भी नहीं मिल रहा है। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

वे सब ही धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदाय सहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं और भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण (जिससे अर्जुन बहुत भयभीत था, वह कर्ण) एवं हमारी ओर के भी प्रधान योद्धाओं सहित सब के सब-

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।।२७।।

बड़े वेग से आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं तथा उनमें से कितने ही चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिखाई पड़ रहे हैं। वे किस वेग से प्रवेश कर रहे हैं? अब उनका वेग देखें-

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

जैसे नदियों के बहुत से जल-प्रवाह (अपने में विकराल होते हुए भी) समुद्र की ओर दौड़ते हैं, समुद्र में प्रवेश करते हैं, ठीक उसी प्रकार वे शूरवीर मनुष्यों के समुदाय आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। अर्थात् वे अपने में शूरवीर तो हैं; किन्तु आप समुद्रवत् हैं। आपके समक्ष उनका बल अत्यल्प है। वे किसलिए और किस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं? इसके लिए उदाहरण प्रस्तुत है-

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

जैसे पतंगा नष्ट होने के लिए ही प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब प्राणी भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अत्यन्त बढ़े हुए वेग से प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

आप उन समस्त लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा सब ओर से निगलते हुए चाट रहे हैं, उनका आस्वादन कर रहे हैं। हे व्यापनशील परमात्मन्! आपकी उग्र प्रभा सम्पूर्ण जगत् को अपने तेज से व्याप्त करके तपा रही है। तात्पर्य यह है कि पहले आसुरी सम्पद् परमतत्त्व में विलीन हो जाती है, उसके पश्चात् दैवी सम्पद् का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता इसलिए वह भी उसी स्वरूप में विलीन हो जाती है। अर्जुन ने देखा कि कौरव पक्ष, तदनन्तर उसके अपने पक्ष के योद्धा श्रीकृष्ण के मुख में विलीन होते जा रहे हैं। उसने पूछा-

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

मुझे बताइये कि भयंकर आकारवाले आप कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न हों। आदिस्वरूप! मैं आपको भली प्रकार जानना चाहता हूँ (जैसे, आप कौन हैं? क्या करना चाहते हैं); क्योंकि आपकी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टाओं को नहीं समझ पा रहा हूँ। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण बोले-

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

अर्जुन! मैं लोकों का नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ और इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रतिपक्षियों की सेना

में स्थित जितने योद्धा हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे, वे जीवित नहीं बचेंगे इसीलिए प्रवृत्त हुआ हूँ।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

इसलिए अर्जुन! तू युद्ध के लिए खड़ा हो, यश प्राप्त कर। शत्रुओं को जीत, समृद्धि-सम्पन्न राज्य को भोग। यह सब शूरवीर मेरे द्वारा पहले से ही मारे हुए हैं। सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्त मात्र बन।

प्रायः सर्वत्र श्रीकृष्ण ने कहा है कि वह परमात्मा न कुछ स्वयं करता है, न कराता है, न संयोग ही जोड़ता है। मोहावृत्त बुद्धि के कारण ही लोग कहते हैं कि परमात्मा कराता है; किन्तु यहाँ वे स्वयं ताल ठोंककर खड़े हो जाते हैं कि, अर्जुन! कर्त्ता-धर्त्ता तो मैं हूँ। मेरे द्वारा ये पहले से ही मारे हुए हैं। तू खड़ा भर हो, यश ले ले। ऐसा इसलिये है कि **'सो केवल भगतन्ह हित लागी।'** अर्जुन उसी अवस्था को प्राप्त कर चुका था कि भगवान स्वयं ताल ठोंककर खड़े हो गये। अनुराग ही अर्जुन है। अनुरागी के लिये भगवान सदैव खड़े हैं, उन्हीं के कर्त्ता हैं, रथी बन जाते हैं।

यहाँ गीता में तीसरी बार साम्राज्य का प्रकरण आया। पहले अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था। उसने कहा कि पृथ्वी के धन-धान्यसम्पन्न अकण्टक साम्राज्य तथा देवताओं के स्वामीपन अथवा त्रैलोक्य के राज्य में भी मैं उस उपाय को नहीं देखता, जो इन्द्रियों को सुखानेवाले मेरे इस शोक को दूर कर सके। जब तड़पन बनी ही रहेगी, तो हमें नहीं चाहिए। योगेश्वर ने कहा - इस युद्ध में हारोगे तो देवत्व और जीतने पर महामहिम की स्थिति मिलेगी और यहाँ ग्यारहवें अध्याय में कहते हैं कि ये शत्रु मेरे द्वारा मारे गये हैं, तू निमित्तमात्र भर बन जा, यश को प्राप्त कर और समृद्ध राज्य को भोग। फिर वही बात, जिस बात से अर्जुन चौंकता है, जिससे वह शोक मिटता हुआ

नहीं देखता, क्या श्रीकृष्ण फिर भी वही राज्य देंगे? नहीं, वस्तुतः विकारों के अन्त के साथ परमात्मस्वरूप की स्थिति ही वास्तविक समृद्धि है जो स्थिर सम्पत्ति है। जिसका कभी विनाश नहीं होता, राजयोग का परिणाम है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

इन द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्यान्य बहुत से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओं को तू मार, भय मत कर। संग्राम में बैरियों को तू निश्चित जीतेगा इसलिए युद्ध कर। यहाँ भी योगेश्वर ने कहा कि ये मेरे द्वारा मारे हुए हैं। इन मरे हुए को तू मार। स्पष्ट किया कि मैं कर्त्ता हूँ, जबकि पाँचवें अध्याय के १३, १४ एवं १५ श्लोक में उन्होंने कहा था - भगवान अकर्त्ता हैं। अठारहवें अध्याय में वे कहते हैं कि शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक कार्य के होने में पाँच माध्यम हैं - अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा और दैव। जो कहते हैं कैवल्य स्वरूप परमात्मा करते हैं वे अविवेकी हैं, यथार्थ नहीं जानते अर्थात् भगवान नहीं करते। ऐसा विरोधाभास क्यों?

वस्तुतः प्रकृति और उस परमात्म-पुरुष के बीच एक सीमा रेखा है। जब तक प्रकृति के परमाणुओं का दबाव अधिक रहता है, तब तक माया प्रेरणा देती है और जब साधक उससे ऊपर उठ जाता है, ईश्वर, इष्ट अथवा सद्गुरु के कार्यक्षेत्र में प्रवेश प्राप्त कर लेता है, उसके बाद सद्गुरु इष्ट (याद रहे प्रेरक के स्थान पर सद्गुरु, परमात्मा, इष्ट, भगवान पर्यायवाची हैं। कुछ भी कहें, कहता भगवान ही है।) हृदय में रथी हो जाता है, आत्मा से जाग्रत होकर उस अनुरागी साधक का स्वयं पथ-संचालन करने लग जाता है।

पूज्य महाराज जी कहते थे - ''हो, जिस परमात्मा की हमें चाह है, जिस सतह पर हम खड़े हैं, उस सतह पर स्वयं उतरकर जब तक आत्मा से जागृत नहीं हो जाता, तब तक सही मात्रा में साधन का आरम्भ नहीं होता।

उसके बाद जो कुछ साधक से पार लगता है, वह उनकी देन है। साधक तो निमित्त मात्र होकर उनके संकेत और आदेश पर चलता भर रहता है। साधक की विजय उनकी देन है। ऐसे अनुरागी के लिए ईश्वर अपनी दृष्टि से देखता है, दिखाता है और अपने स्वरूप तक पहुँचाता है।'' यही श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे द्वारा मारे हुए इन बैरियों को मार। निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी, मैं जो खड़ा हूँ।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

संजय बोला - (जो कुछ अर्जुन ने देखा, ठीक वैसा ही संजय ने देखा है। अज्ञान से आच्छादित मन ही अन्धा धृतराष्ट्र है; लेकिन ऐसा मन भी संयम के माध्यम से भली प्रकार देखता, सुनता और समझता है) केशव के इन उपर्युक्त वचनों को सुनकर किरीटधारी अर्जुन भयभीत होकर काँपता हुआ हाथ जोड़कर, नमस्कार करके फिर श्रीकृष्ण से इस गद्‌गद वाणी से ही बोला-

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।।३६।।

हे अन्तर्यामिन् हृषीकेश! यह उचित ही है कि आपकी कीर्ति से संसार हर्षित होता है और अनुराग को प्राप्त होता है। आपकी ही महिमा से भयभीत हुए राक्षस दिशाओं में भागते हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय आपकी महिमा को देखकर नमस्कार करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

हे महात्मन्! ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता और सबसे बड़े आपके लिए वे सब कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! सत्, असत् और उनसे भी परे अक्षर अर्थात् अक्षय स्वरूप आप ही हैं। अर्जुन ने अक्षय स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन किया था। केवल बौद्धिक स्तर पर कल्पना करने या मान लेने मात्र से कोई ऐसी स्थिति नहीं मिलती, जो अक्षय हो। अर्जुन का प्रत्यक्ष दर्शन उसकी आन्तरिक अनुभूति है। उसने सविनय कहा-

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस जगत् के परम आश्रय और जाननेवाले हैं, जानने योग्य हैं तथा परमधाम हैं। हे अनन्तस्वरूप! आपसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। आप सर्वत्र हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपको हजारों बार नमस्कार है। फिर भी बार-बार नमस्कार है। अतिशय श्रद्धा और भक्ति के कारण नमन करते हुए अर्जुन को तृप्ति नहीं हो रही है। वह कहता है-

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

हे अत्यन्त सामर्थ्यवाले! आपको आगे से और पीछे से भी नमस्कार हो। हे सर्वात्मन्! आपको सब ओर से ही नमस्कार हो; क्योंकि हे अत्यन्त पराक्रमशाली! आप सब ओर से संसार को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिये आप ही सर्वरूप और सर्वत्र हैं। इस प्रकार बारंबार नमस्कार करके भयभीत अर्जुन अपनी भूलों के लिए क्षमायाचना करता है-

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।

आपके इस प्रभाव को न जानते हुए आपको सखा, मित्र मानकर मेरे द्वारा प्रेम अथवा प्रमाद से भी हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे - इस प्रकार जो कुछ भी हठपूर्वक कहा गया है। तथा-

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

हे अच्युत! जो आप हँसी के लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिकों में अकेले अथवा उन लोगों के सामने भी अपमानित किये गये हैं, वह सब अपराध अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा कराता हूँ। किस प्रकार क्षमा करें?

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

आप इस चराचर जगत् के पिता, गुरु से भी बड़े गुरु और अति पूजनीय हैं। जिसकी कोई प्रतिमा नहीं, ऐसे अप्रतिम प्रभाववाले! आपके समान तीनों लोकों में दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे होगा? आप सखा भी नहीं, सखा तो समकक्ष होता है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

आप चराचर के पिता हैं, इसलिये मैं अपने शरीर को भली प्रकार आपके चरणों में रखकर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न होने के लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रिय स्त्री के अपराधों को क्षमा करता है, वैसे ही आप भी मेरे अपराधों को सहन करने योग्य हैं। अपराध क्या था? हमने कभी हे यादव! हे सखा! हे कृष्ण! कहा था। समाज के बीच अथवा एकान्त में कहा था। भोजन के समय अथवा सोने के समय कहा था। क्या कृष्ण कहना अपराध था? काले थे ही, गोरे कैसे कहे जाते? यादव कहना भी अपराध नहीं था; क्योंकि यदुकुल में तो जन्म ही हुआ था। सखा कहना भी अपराध नहीं था; क्योंकि स्वयं श्रीकृष्ण भी अपने को अर्जुन का सखा मानते थे। जब कृष्ण कहना अपराध ही है, एक बार कृष्ण कहने के लिये अर्जुन अनन्त बार गिड़गिड़ाकर क्षमायाचना कर रहा है, तो जप किसका करें? नाम कौन-सा लें?

वस्तुतः चिन्तन का जैसा विधान स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया है, वैसा ही आप करें। उन्होंने पीछे बताया, **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।'**- अर्जुन! 'ॐ' बस इतना ही अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, इसका तू जप कर और ध्यान मेरा धर; क्योंकि उस परमभाव में प्रवेश मिल जाने के पश्चात् उन महापुरुष का भी वही नाम है, जो उस अव्यक्त का परिचायक है। प्रभाव देखने पर अर्जुन ने पाया कि ये न तो काले हैं न गोरे, न सखा हैं न यादव! यह तो अक्षय ब्रह्म की स्थितिवाले महात्मा हैं।

सम्पूर्ण गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पाँच बार ओम् के उच्चारण पर बल दिया। अब यदि आपको जप करना है, तो कृष्ण-कृष्ण न कहकर ओम् का ही जप करें। प्रायः भाविक लोग कोई-न-कोई रास्ता निकाल लेते हैं। कोई 'ओम्' जपने के अधिकार और अनाधिकार की चर्चा से भयभीत है,

तो कोई महात्माओं की दुहाई देता है अथवा कोई श्रीकृष्ण ही नहीं, उनसे पहले राधा और गोपियों का नाम भी उनकी शीघ्र प्रसन्नता के लोभ में जपता है। पुरुष श्रद्धामय है इसलिये उसका ऐसा जपना मात्र भावुकता है। यदि आप सचमुच भाविक हैं, तो उनके आदेश का पालन करें। वे अव्यक्त में स्थित होते हुए भी आज आपके सामने नहीं हैं लेकिन उनकी वाणी आपके समक्ष है। उनकी आज्ञा का पालन करें अन्यथा आप ही बताइये कि गीता में आपका क्या स्थान हैं? हाँ, इतना अवश्य है कि **'अध्येष्यते च य इमं श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।'** जो अध्ययन करता है, सुनता है, वह ज्ञान तथा यज्ञ को जान लेता है, शुभ लोकों को पा जाता है। अतः अध्ययन अवश्य करें।

प्राण-अपान के चिन्तन में 'कृष्ण' नाम का क्रम पकड़ में नहीं आता। बहुत से लोग कोरी भावुकतावश केवल 'राधे-राधे' कहने लगे हैं। आजकल अधिकारियों से काम न होने पर उनके सगे-सम्बन्धियों से, प्रेमी या पत्नी से 'सोर्स' लगाकर काम चला लेने की परम्परा है। लोग सोचते हैं कि कदाचित् भगवान के घर में भी ऐसा चलता होगा, अतः उन्होंने 'कृष्ण' कहना बन्द करके 'राधे-राधे' कहना आरम्भ कर दिया। वे कहते हैं, 'राधे-राधे! श्याम मिला दे।' राधा एक बार बिछुड़ी तो स्वयं श्याम से नहीं मिल पायी, वह आपको कैसे मिला दे? अतः अन्य किसी का कहना न मानकर श्रीकृष्ण के आदेश को आप अक्षरशः मानें, ओम् का जप करें। हाँ, यहाँ तक उचित है कि राधा हमारा आदर्श है, उतनी ही लगन से हमें भी लगना चाहिये। यदि पाना है, तो राधा की तरह विरही बनना है।

आगे भी अर्जुन ने 'कृष्ण' कहा। 'कृष्ण' उनका प्रचलित नाम था। ऐसे कई नाम थे, जैसे 'गोपाल'। बहुत से साधक गुरु-गुरु या गुरु का प्रचलित नाम भावुकतावश जपना चाहते हैं; किन्तु प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक महापुरुष का वही नाम है, जिस अव्यक्त में वह स्थित है। बहुत से शिष्य प्रश्न करते हैं- ''गुरुदेव! जब ध्यान आपका करते हैं तो पुराना नाम 'ओम्' इत्यादि क्यों जपें, 'गुरु-गुरु' अथवा 'कृष्ण-कृष्ण' क्यों न कहें।'' किन्तु यहाँ योगेश्वर ने

स्पष्ट किया कि अव्यक्त स्वरूप में विलय के साथ महापुरुष का भी वही नाम है, जिसमें वह स्थित है। 'कृष्ण' सम्बोधन था, जपने का नाम नहीं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण से अर्जुन ने अपने अपराधों के लिये क्षमायाचना की, उन्हें स्वाभाविक रूप में आने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण मान गये, सहज हो गये अर्थात् उसे क्षमा भी कर दिया। उसने निवेदन किया-

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अभी तक अर्जुन के समक्ष योगेश्वर विश्वरूप में हैं। अतः वह कहता है कि मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ तथा मेरा मन भय से अति व्याकुल भी हो रहा है। पहले तो सखा समझता था, धनुर्विद्या में कदाचित् अपने को कुछ आगे ही पाता था; किन्तु अब प्रभाव देखकर भयभीत हो रहा है। पिछले अध्याय में प्रभाव सुनकर वह अपने को ज्ञानी मानता था। ज्ञानी को कहीं भय नहीं होता है। वस्तुतः प्रत्यक्ष दर्शन का प्रभाव ही विलक्षण होता है। सब कुछ सुन और मान लेने के बाद भी सब कुछ चलकर जानना शेष ही रहता है। वह कहता है - पहले न देखे हुए आपके इस रूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ। मेरा मन भय से व्याकुल भी हो रहा है। अतः हे देव! आप प्रसन्न हों। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप अपने उस रूप को ही मुझे दिखाइये। कौन-सा रूप?-

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

मैं आपको वैसे ही अर्थात् पहले की ही तरह शिर पर मुकुट धारण किये हुए, हाथ में गदा और चक्र लिये हुए देखना चाहता हूँ। इसलिये हे विश्वरूपे! हे सहस्रबाहु! आप अपने उसी चतुर्भुज स्वरूप में होइये। कौन-

सा रूप देखना चाहा? चतुर्भुज रूप! अब देखना है कि चतुर्भुज रूप है क्या?

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

इस प्रकार अर्जुन की प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्ण बोले - अर्जुन! मैंने अनुग्रहपूर्वक अपनी योगशक्ति के प्रभाव से अपना परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विश्वरूप तुझे दिखाया है, जिसे तेरे सिवाय दूसरे किसी ने पहले कभी नहीं देखा।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

अर्जुन! इस मनुष्य लोक में इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद से, न यज्ञ से, न अध्ययन से, न दान से, न क्रिया से, न उग्र तप से और न तेरे सिवाय किसी अन्य से देखा जाने को सम्भव हूँ अर्थात् तेरे सिवाय यह रूप अन्य कोई देख नहीं सकता। तब तो गीता आपके लिये बेकार है। भगवद्दर्शन की भी योग्यतायें अर्जुन तक सीमित रह गईं, जबकि पीछे बता आये हैं कि अर्जुन! राग, भय और क्रोध से रहित अनन्य मन से मेरी शरण हुए बहुत से लोग ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। यहाँ कहते हैं - तेरे सिवाय न कोई देख सका है और न भविष्य में कोई देख सकेगा। अतः अर्जुन कौन है? क्या कोई पिण्डधारी है? क्या कोई शरीरधारी है? नहीं, वस्तुतः अनुराग ही अर्जुन है। अनुरागविहीन पुरुष न कभी देख सका है और न भविष्य में कभी देख सकेगा। सब ओर से चित्त समेटकर

एकमात्र इष्ट के अनुरूप राग ही अनुराग है। अनुरागी के लिए ही प्राप्ति का विधान है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

इस प्रकार के मेरे इस विकराल रूप को देखकर तुझे व्याकुलता न हो और मूढ़भाव भी न हो कि घबड़ाकर अलग हो जाओ। अब तू भयरहित और प्रीतियुक्त मन से उसी मेरे इस रूप को अर्थात् चतुर्भुज रूप को फिर देख।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

संजय बोला – सर्वत्र वास करनेवाले देव उन वासुदेव ने अर्जुन से इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने रूप को दिखाया। फिर महात्मा श्रीकृष्ण ने ''सौम्यवपुः'' अर्थात् प्रसन्न होकर भयभीत अर्जुन को धैर्य दिया। अर्जुन बोला–

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

जनार्दन! आपके इस अत्यन्त शान्त मनुष्य रूप को देखकर अब मैं प्रसन्नचित्त हुआ अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ। अर्जुन ने कहा था, भगवन्! अब आप मुझे उसी चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन कराइये। योगेश्वर ने कराया भी; किन्तु अर्जुन ने जब देखा, तो क्या पाया? **'मानुषं रूपं'**– मनुष्य के रूप को देखा। वस्तुतः प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष ही चतुर्भुज और

अनन्तभुज कहलाते हैं। दो भुजावाला महापुरुष तो अनुरागी के समक्ष बैठा ही है; किन्तु अन्यत्र कहीं से कोई स्मरण करता है तो वही महापुरुष उस स्मरणकर्त्ता से जागृत (रथी) होकर उसका भी मार्गदर्शन करता है। 'भुजा' कार्य का प्रतीक है। वे भीतर भी कार्य करते हैं बाहर भी, यही चतुर्भुज स्वरूप है। उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म क्रमशः वास्तविक लक्ष्यघोष, साधन-चक्र का प्रवर्तन, इन्द्रियों का दमन और निर्मल-निर्लेप कार्यक्षमता का प्रतीक मात्र है। यही कारण है कि चतुर्भुज रूप में उन्हें देखने पर भी अर्जुन ने उन्हें मनुष्य रूप में ही पाया। चतुर्भुज महापुरुषों के शरीर और स्वरूप से कार्य करने की विधि-विशेष का नाम है, न कि चार हाथवाले कोई श्रीकृष्ण थे।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

महात्मा श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! मेरा यह रूप देखने को अति दुर्लभ है, जैसा कि तूने देखा है; क्योंकि देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की इच्छा रखते हैं। वस्तुतः सभी लोग संत को पहचान ही नहीं पाते। 'पूज्य सत्संगी महाराज' अन्तःप्रेरणावाले पूर्ण महापुरुष थे; लेकिन लोग उन्हें पागल समझते रहे। किसी-किसी पुण्यात्मा को आकाशवाणी हुई कि ये सद्गुरु हैं; केवल उन्होंने उन्हें हृदय से पकड़ा, उनके स्वरूप को पाया और अपनी गति पा ली। यही श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिनके हृदय में दैवी सम्पद् जागृत है, वे देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा रखते हैं। तो क्या यज्ञ, दान अथवा वेदाध्ययन से आप देखे जा सकते हैं? वह महात्मा कहते हैं-

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

न वेदों से, न तप से, न दान से, और न यज्ञ से मैं इस प्रकार देखा जाने को सुलभ हूँ, जिस प्रकार तूने देखा है। तब क्या आपको देख पाने का कोई उपाय नहीं है? वे महात्मा कहते हैं, एक उपाय है-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।५४।।

हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति द्वारा अर्थात् सिवाय मेरे अन्य किसी देवता का स्मरण न करते हुए, अनन्य श्रद्धा से तो मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने के लिए, तत्त्व से साक्षात् जानने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ अर्थात् उनकी प्राप्ति का एकमात्र सुगम माध्यम अनन्य भक्ति है। अन्त में ज्ञान भी अनन्य भक्ति में परिणत हो जाता है, जैसा कि पीछे अध्याय सात में द्रष्टव्य है। पीछे उन्होंने कहा कि तेरे सिवाय न कोई देख सका है और न कोई देख सकेगा, जबकि यहाँ कहते हैं कि अनन्य भक्ति से न केवल मुझे देखा जा सकता है अपितु साक्षात् जाना और मुझमें प्रवेश भी पाया जा सकता है, अर्थात् अर्जुन अनन्य भक्त का नाम है, एक अवस्था का नाम है। अनुराग ही अर्जुन है। अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

हे अर्जुन! जो पुरुष मेरे द्वारा निर्दिष्ट कर्म अर्थात् नियत कर्म यज्ञार्थ कर्म करता है, **'मत्परमः'** मेरे परायण होकर करता है, जो मेरा अनन्य भक्त है, **'सङ्गवर्जितः'**- किन्तु संगदोष में रहते हुए वह कर्म नहीं हो सकता। अतः संग-दोष से रहित होकर **'निर्वैरः सर्वभूतेषु'**- सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में बैर-भाव से रहित है, वह मुझे प्राप्त होता है। तो क्या अर्जुन ने युद्ध किया? प्रण करके क्या उसने जयद्रथादि को मारा? यदि उन्हें मारता है, तो भगवान को न देख पाता, जबकि अर्जुन ने देखा है। इससे सिद्ध है कि गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है, जो बाह्य मारकाट का समर्थन करता हो। जो निर्दिष्ट कर्म यज्ञ की प्रक्रिया का आचरण करेगा, जो अनन्य भाव से उनके सिवाय किसी का स्मरण तक नहीं करेगा, जो संग-दोष से अलग रहेगा तो युद्ध कैसा? जब आपके साथ कोई है ही नहीं, तो आप युद्ध किससे करेंगे? सम्पूर्ण भूत- प्राणियों में जो बैरभाव से रहित है, मन से भी किसी को सताने की कल्पना न करे, वही मुझे प्राप्त होता है, तो क्या अर्जुन ने लड़ाई ली? कभी नहीं।

वस्तुतः संग-दोष से अलग रहकर जब आप अनन्य चिन्तन में लगते हैं, निर्धारित यज्ञ की क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, उस समय परिपंथी राग-द्वेष, काम-क्रोध इत्यादि दुर्जय शत्रु बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही हैं। उनका पार पाना ही युद्ध है।

निष्कर्ष–

इस अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने कहा – भगवन्! आपकी विभूतियों को मैंने विस्तार से सुना, जिससे मेरा मोह नष्ट हो गया, अज्ञान का शमन हो गया; किन्तु जैसा आपने बताया कि मैं सर्वत्र हूँ, इसे मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। यदि मेरे द्वारा देखना सम्भव हो, तो कृपया उसी स्वरूप को दिखाइए। अर्जुन प्रिय सखा था, अनन्य सेवी था। अतएव योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कोई प्रतिवाद न कर तुरन्त दिखाना प्रारम्भ किया कि अब मेरे ही अन्दर खड़े सप्तर्षि और उनसे भी पूर्व होनेवाले ऋषियों को देख, ब्रह्मा और विष्णु को देख। सर्वत्र फैले मेरे तेज को देख। मेरे ही शरीर में एक स्थान पर खड़े तू चराचर जगत् को देख; किन्तु अर्जुन आँखें मलता ही रह गया। इसी प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण दो-तीन श्लोक तक अनवरत दिखाते गये; किन्तु अर्जुन को कुछ भी दिखाई नहीं पड़ा। सभी विभूतियाँ योगेश्वर में उस समय थीं; किन्तु अर्जुन को वे सामान्य मनुष्य-जैसे ही दिखायी पड़ रहे थे। तब इस प्रकार दिखाते-दिखाते योगेश्वर श्रीकृष्ण सहसा रुक जाते हैं और कहते हैं – अर्जुन! इन आँखों से तू मुझे नहीं देख सकता। अपनी बुद्धि से तू मुझे परख नहीं सकता। लो, अब मैं तुझे वह दृष्टि देता हूँ, जिससे तू मुझे देख सकेगा। भगवान तो सामने खड़े ही थे। अर्जुन ने देखा, वास्तव में देखा। देखने के पश्चात् क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करने लगा, जो वास्तव में त्रुटियाँ नहीं थीं। उदाहरण के लिए – भगवन्! कभी मैंने आपको कृष्ण, यादव और कभी सखा कह दिया था। इसके लिए आप मुझे क्षमा करें। श्रीकृष्ण ने क्षमा भी किया; क्योंकि अर्जुन की प्रार्थना स्वीकार कर वे सौम्य स्वरूप में आ गये, धीरज बँधाया।

वस्तुतः कृष्ण कहना अपराध नहीं था। वे सांवले थे ही, गोरे कैसे कहलाते। यदुवंश में जन्म हुआ ही था। श्रीकृष्ण स्वयं भी अपने को सखा मानते ही थे। वास्तव में प्रत्येक साधक महापुरुष को पहले ऐसा ही समझते हैं। कुछ उन्हें रूप और आकार से सम्बोधित करते हैं, कुछ उनकी वृत्ति से उन्हें पुकारते हैं और कुछ उन्हें अपने ही समकक्ष मानते हैं, उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं समझते। उनके अचिन्त्य स्वरूप को अर्जुन ने समझा तो पाया कि ये न तो काले हैं और न गोरे, न किसी कुल के हैं और न किसी के साथी ही हैं। इनके समान कोई है ही नहीं, तो सखा कैसा? बराबर कैसा? यह तो अचिन्त्य स्वरूप हैं। जिसे यह स्वयं दिखा दें, वही इन्हें देख पाता है। अतः अर्जुन ने अपनी प्रारम्भिक भूलों के लिए क्षमायाचना की।

प्रश्न उठता है कि जब कृष्ण कहना अपराध है, तो उनका नाम जपा कैसे जाय? तो जिसे योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जपने के लिए स्वयं बल दिया, जपने की जो विधि बतायी, उसी विधि से आप चिन्तन-स्मरण करें। वह है – **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।'**– 'ओम्' अक्षय ब्रह्म का पर्याय है। **'ओ अहम् स ओम्'**– जो व्याप्त है वह सत्ता मुझमें छिपी है, यही है ओम् का आशय। आप इसका जप करें और ध्यान मेरा करें। रूप अपना, नाम ओम् का बताया।

अर्जुन ने प्रार्थना की कि चतुर्भुज रूप में दर्शन दीजिए। श्रीकृष्ण ने उसी सौम्य स्वरूप को धारण किया। अर्जुन ने कहा – भगवन्! आपके इस सौम्य मानव स्वरूप को देखकर अब मैं प्रकृतिस्थ हुआ। माँगा था चतुर्भुज रूप, दिखाया 'मानुषं रूपं'। वास्तव में शाश्वत में प्रवेशवाला योगी शरीर से यहाँ बैठा है, बाहर दो हाथों से कार्य करता है और साथ ही अन्तरात्मा से जागृत होकर जहाँ से भी जो भाविक स्मरण करते हैं, एक साथ सर्वत्र उनके हृदय से जागृत होकर प्रेरक के रूप में कार्य करता है। हाथ उसके कार्य का प्रतीक है, यही चतुर्भुज है।

श्रीकृष्ण ने कहा – अर्जुन! तेरे सिवाय मेरे इस रूप को न कोई देख सका है और भविष्य में न कोई देख सकेगा। तब गीता हमारे लिये व्यर्थ है। किन्तु नहीं, योगेश्वर कहते हैं – एक उपाय है। जो मेरा अनन्य भक्त है, मेरे सिवाय जो दूसरे किसी का स्मरण न करके निरन्तर मेरा ही चिन्तन करनेवाला है, उसकी अनन्य भक्ति के द्वारा मैं प्रत्यक्ष देखने को (जैसा तूने देखा है), तत्त्व से जानने को और प्रवेश करने को भी सुलभ हूँ। अर्थात् अर्जुन अनन्य भक्त था। भक्ति का परिमार्जित रूप है अनुराग, इष्ट के अनुरूप लगाव। **'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।'**– अनुरागविहीन पुरुष न कभी पाया है और न पा सकेगा। अनुराग नहीं है तो कोई लाख योग करे, जप करे, तप करे या दान करे, 'वह' नहीं मिलता। अतः इष्ट के अनुरूप राग अथवा अनन्य भक्ति नितान्त आवश्यक है।

अन्त में श्रीकृष्ण ने कहा – अर्जुन! मेरे द्वारा निर्दिष्ट कर्म को कर, मेरा अनन्य भक्त होकर कर, मेरी शरण होकर कर; किन्तु संगदोष से अलग रहकर। संगदोष में यह कर्म हो ही नहीं सकता। अतः संगदोष इस कर्म के सम्पादित होने में बाधक हैं। जो बैरभाव से रहित है, वही मुझे प्राप्त करता है। जब संगदोष नहीं है, जहाँ हमें छोड़कर दूसरा कोई है ही नहीं, बैर का मानसिक संकल्प भी नहीं है, तो युद्ध कैसा? बाहर दुनिया में लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं; किन्तु विजय जीतनेवालों को भी नहीं मिलती। दुर्जय संसाररूपी शत्रु को असंगतारूपी शस्त्र से काटकर परम में प्रवेश पा जाना ही वास्तविक विजय है, जिसके पीछे हार नहीं है।

इस अध्याय में पहले तो योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दृष्टि प्रदान की, फिर अपने विश्वरूप का दर्शन कराया। अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र

विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'विश्वरूप-दर्शन योग' नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।